

॥ श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ॥

अध्याय 16: दैवासुरसंपद्धिभागयोग

1/2 (श्लोक 1-4), शनिवार, 06 सितंबर 2025

विवेचक: गीता विशारद डॉ. संजय जी मालपाणी

यूट्यूब लिंक: <https://youtu.be/TJz4d8CKF1c>

दैवीय गुणों से सँवरता व्यक्तित्व-एक अमूल्य निधि

सुमधुर देशभक्ति गीत, श्री वल्लभाचार्य कृत मधुराष्टक एवं श्री हनुमान चालीसा पाठ के पश्चात् प्रार्थना सम्पन्न हुई। तदुपरान्त दीप प्रज्वलन के साथ आज सोलहवें अध्याय के विवेचन का प्रथम सत्र प्रारम्भ हुआ।

परमपूज्य सद्गुरुदेव जी को नमन करते हुए दैवीय तथा आसुरी सम्पदाओं की विस्तृत चर्चा "सद्गुणों से सँवरता व्यक्तित्व, जीवन की अमूल्य निधि" के पुण्य भाव से की गयी।

सोलहवें अध्याय के साथ ही हमारी दूसरे धाम की यात्रा का शुभारम्भ हो चुका है। सोलहवें अध्याय का विवेचन ऐसे दिन प्रारम्भ हो रहा है जब हम सब गणेशजी का विसर्जन कर रहे हैं। दस दिन पूर्व हम सबने बड़े उत्साह और हर्षोल्लास के साथ गणेशजी का स्वागत किया था। उन्हें अपने घरों में प्रतिष्ठित किया, सुन्दर झाँकियाँ सजायीं, विविध प्रकार की व्यवस्थाएँ की। इन दस दिनों में प्रतिदिन, प्रातः और सायं हम सबने आरती की, स्वादिष्ट व्यञ्जनों का भोग लगाया, पुष्पमालाओं से उनका शृङ्गार किया। आज, दस दिन की उस मङ्गलमयी उपस्थिति के पश्चात्, हम उन्हें श्रद्धा और उल्लास के साथ विदा कर रहे हैं, उनको विसर्जित करने के लिए धूमधाम से रवाना कर रहे हैं।

वास्तव में यदि गहराई से विचार करें तो प्रश्न उठता है कि यह विसर्जन है क्या? विसर्जन का अर्थ मात्र डुबोना नहीं है, अपितु "विस्तार में सृजन करना" है।

हम भगवान् श्रीगणेश को जल में समाधि देने नहीं जाते, न ही डुबोने जाते हैं। हमारे शास्त्रों में यह भाव है कि हम श्रीभगवान् को डुबोते नहीं, बल्कि उन्हें 'बड़ा करने' ले जाते हैं अर्थात् हमारी दृष्टि सङ्कुचित नहीं, व्यापक है- हम गणपति जी का विस्तार करते हैं, उन्हें सीमित स्वरूप से असीम विराट में प्रतिष्ठित करते हैं। यही विसर्जन का गूढ़ भाव है - सीमित मूर्ति से असीम की ओर बढ़ना।

"विस्तार में सृजन" का अर्थ-

आज तक हम जिन गणेशजी को छोटी मूर्ति में देखते आए हैं, अब हम उन्हें विस्तारित रूप में अनुभव करना चाहते हैं। जिस जल में हम उन्हें प्रवाहित करेंगे, वह जल जब खेतों में पहुँचेगा, तो हर खेत-खलिहान भी उनके स्वरूप में परिणत होंगे।

जिस खेत में वह धान उगेगा, वह धान भी **गणेशमय** होगा।
जब वह धान हमारे घरों में पहुँचेगा, तो हमारे घर भी **गणेशमय** हो जाएँगे।
जिसके मुख में उस धान की रोटी जाएगी, वह व्यक्ति भी **गणेशमय** अनुभव करेगा।

अर्थात् हम अपने परिवार और समाज में श्रीगणेश का दर्शन केवल मूर्ति तक सीमित न कर, हर जीव, हर कर्म और हर स्थान में अनुभव करना चाहते हैं। अब हम लोगों में भी, अपने परिवार जनों में भी श्रीगणेश का दर्शन सकेंगे। इसी भाव से हम गणेश जी का विस्तार कर देते हैं, विसर्जन कर देते हैं ताकि उनका प्रकाश और उनकी ऊर्जा हर ओर फैले।

ऐसी अद्भुत परम्पराएँ हमारे धर्म-शास्त्रों में अङ्कित हैं।

भगवान् श्रीगणेश और विस्तार में सृजन।

हम सोचते हैं फिर भगवान् गणेश केवल दस दिन ही क्यों पधारते हैं?

दस दिन का पर्व केवल उत्सव नहीं, बल्कि हमारी चित्त-वृत्तियों का शुद्धिकरण है। दस दिनों तक श्रीगणेश की सेवा, पूजन और आरती करते-करते हमारा मन निर्मल हो जाता है और जब मन निर्मल होता है, तभी उसके साथ विस्तार में सृजन सम्भव होता है। परिवार के हर व्यक्ति, समाज के हर सदस्य में यही अनुभव फैलता है।

श्रीभगवान् कहते हैं-

“यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति”

जो मुझे सर्वत्र देखता है, वही मुझे वास्तविक रूप में जानता है। यही भाव हमें गणेश-विसर्जन के माध्यम से समझ आता है। 'सब लोगों में अब मुझे गणेश ही दिखाई देंगे'- यही तो गीताजी का भाव है।

श्रीमद्भगवद्गीता योगशास्त्र है। इस योगशास्त्र के माध्यम से हम उस परमात्म-तत्त्व का अनुभव अपने आत्म-तत्त्व में कर सकते हैं।

इस आत्म तत्व को इतना विस्तारित कर दें कि अन्ततोगत्वा,

“अहं ब्रह्मास्मि”

का उद्घोष सर्वत्र हो जाय।

“अहं ब्रह्मास्मि”- अर्थात् “मैं ब्रह्म हूँ” या “मैं ही परम सत्य हूँ।”

यही भाव है गणेश विसर्जन के पीछे।

श्रीगणेशजी का रूप और अर्थ-

गणेशजी का रूप- उनकी सूँड, उनके चार हाथ- एक हाथ में अङ्कुश, एक हाथ में पाश, यह रूप प्रतीकात्मक भी है-

**एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम्,
रदं च वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम् ॥**

कभी हमने सोचा कि इतने छोटे मूषक पर इतने बड़े गणेश कैसे बैठते हैं! उनके बैठने से मूषक दब जाएगा, पर उनके **हाथ में अङ्कुश** है, जो **दौड़ते मन को संयमित करता है**। यदि मन बहुत दौड़ने लगे, तो पाश फेंक कर उसे वापस खींच लेता है। यही **आत्म-नियन्त्रण का रूप** है।

उनका **मस्तक बड़ा** है, क्योंकि उन्हें अपने कार्यों में विघ्न नहीं आने देना है। यदि हमारा मस्तक भी बड़ा होगा अर्थात् हमारी

सोच और धैर्य विशाल होगा तो हम जीवन के किसी भी बोझ और तनाव को सहन कर सकते हैं। अपना मस्तक बड़ा करें, कितना भी बोझ आ जाये, कितने भी तनाव (tension) आ जायें, उस बोझ को हम सहन कर सकें, इतना बड़ा सृजन, इतना बड़ा विस्तार हमारे अपने मस्तिष्क का हो। जिसको अपने सारे कार्य निर्विघ्न पूर्ण करने हैं, वे विघ्नहर्ता की उपासना करें।

दो हाथों से हम काम करते हैं, पर चार हाथ हमारे कौशल और क्षमता का प्रतीक हैं। **दो हाथों से तो हम काम करते ही हैं लेकिन चार हाथों से काम करने की क्षमता हमारे अपने मन में पैदा कर सकें** ताकि हम दोगुना काम कर सकें। **जितनी सोच और संयम की शक्ति होगी, उतनी ही सेवा और सृजनात्मकता सम्भव होगी।**

मूषक से प्रेरणा-

छोटे प्राणी, मूषक भी **अपने उद्देश्य में निपुण हैं**। जिस छोटे से छिद्र में में कोई नहीं जा सकता वहाँ मूषक पहुँच जाता है। यदि वह ठान ले तो एक ही रात में कागज का पूरा गोदाम कुतर डालता है।

उसमें भी अपनी एक योग्यता, एक शक्ति है - **ऐसी योग्यता को भी सम्मान देना है।**

हमें सीखना है कि **छोटी-सी क्षमता भी अगर सही दिशा में प्रयुक्त हो तो बड़ा कार्य कर सकती है।**

यदि हम इस भाव को समझ लें, तो गीताजी के सोलहवें अध्याय के गूढ़ भाव को भी सरलता से समझना सम्भव हो जाता है। गणेश-विसर्जन केवल मूर्ति का पानी में प्रवाह नहीं, बल्कि मन, परिवार और समाज में सृजन का विस्तार है।

बारहवें अध्याय में हमने भक्त के लक्षण देखे, पन्द्रहवें अध्याय में यह समझा कि श्रीभगवान् का निवास कहाँ है और उनका स्वरूप कैसा है। अब यहाँ पहुँचकर यह अनुभव होता है कि भक्त और श्रीभगवान् अब अलग नहीं रहे। जब तक वे अलग थे, तब तक विभक्ति थी, परन्तु जैसे ही यह विभक्ति समाप्त हुई, वैसे ही भक्ति का उदय हुआ।

जब भक्ति का प्रारम्भ होता है तो भक्त में उन भक्त-लक्षणों का स्वाभाविक प्रस्फुटन होने लगता है।

यह ठीक वैसा ही है जैसे सूर्योदय से पहले पूरे नभमण्डल में लालिमा और प्रकाश की आभा फैल जाती है। सूरज अभी पूर्ण रूप से उदित नहीं हुआ होता परन्तु उसकी उपस्थिति का आभास सम्पूर्ण नभमण्डल में छा जाता है।

इसी प्रकार **जब जीवन में भक्ति उतरने लगती है, तो पहले दैवीय सम्पदाएँ हमारे अन्तःकरण में प्रकट होने लगती हैं।**

दैवीय सम्पदाएँ क्या हैं और वे कैसे अभिव्यक्त होती हैं, इसका विस्तृत विवेचन श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में किया गया है।

16.1, 16.2, 16.3

श्रीभगवानुवाच

अभयं(म्) सत्त्वसंशुद्धिः(र), ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

दानं(न्) दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥16.1॥

अहिंसा सत्यमक्रोधः(स्), त्यागः(श) शान्तिरपैशुनम् ।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं(म्), मार्दवं(म्) हीरचापलम्॥16.2॥

तेजः क्षमा धृतिः(श) शौचम्, अद्रोहो नातिमानिता।

भवन्ति सम्पदं(न) दैवीम्, अभिजातस्य भारत।।16.3।।

श्रीभगवान् बोले – भय का सर्वथा अभाव; अन्तःकरण की अत्यंत शुद्धि; ज्ञान के लिये योग में दृढ़ स्थिति; सात्त्विक दान; इन्द्रियों का दमन; यज्ञ; स्वाध्याय; कर्तव्य-पालन के लिये कष्ट सहना और शरीर-मन-वाणी की सरलता।

अहिंसा, सत्य भाषण, क्रोध न करना, संसार की कामना का त्याग, अन्तःकरण में राग-द्वेष जनित हलचल का न होना, चुगली न करना, प्राणियों पर दया करना, सांसारिक विषयों में न ललचाना, अन्तःकरण की कोमलता, अकर्तव्य करने में लज्जा, चपलता का अभाव।

तेज (प्रभाव), क्षमा, धैर्य, शरीर की शुद्धि, वैर भाव का न होना (और) मान को न चाहना, हे भरतवंशी अर्जुन ! (ये सभी) दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए मनुष्य के (लक्षण) हैं।

विवेचन- अद्भुत बात यह है कि श्रीभगवान् ने इस अध्याय के प्रारम्भ में ही, केवल तीन श्लोकों में, सभी दैवीय सम्पदाओं का सङ्केप में वर्णन कर दिया। यह ठीक वैसे है जैसे सूरज प्रकट होने वाला होता है तो अपनी सम्पूर्ण लालिमा एक ही बार में उछाल देता है। श्रीभगवान् भी यहाँ एक साथ छब्बीस दैवीय गुण-सम्पदाएँ प्रकट कर देते हैं और इन सम्पदाओं का आरम्भ उन्होंने सबसे पहले 'अभय' (निर्भयता) से किया है।

1. अभय – दैवीय सम्पदा का अग्रदूत।

सबसे पहली दैवीय सम्पदा है- अभय। अभय का अर्थ है- निर्भयता। **जो निडर है, वही नेता है।** जब तक हम निडर नहीं हैं, तब तक हम नेतृत्व नहीं कर सकते। **जो निर्भय है, वही सच्चा नेतृत्व कर सकता है।** यह निश्चित है कि जब तक मनुष्य भय के बन्धनों में जकड़ा है, तब तक वह नेता की भूमिका नहीं निभा सकता।

अब प्रश्न उठता है- यह निडरता कहाँ से आती है?

यह निर्भयता हमारे मन की शुद्धता से जन्म लेती है। जब तक हमारे भीतर कुछ और है और वाणी में कुछ और, तब तक हमारी वाणी भी काँपती है, हमारी चाल भी डगमगाती है परन्तु जब बाहर और भीतर एक हो जाते हैं, विभक्ति समाप्त होकर भक्ति का आरम्भ होता है, तब आन्तरिक और बाहरी स्वरूप अलग-अलग नहीं रहते।

यही है प्रमाणिकता।

जिसके जीवन में प्रमाणिकता आ गयी, उसे भय किस बात का? सत्य के साथ खड़े रहने वाले को किसी भी परिस्थिति से डरने की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए गीताजी ने अभय को सबसे पहले स्थान दिया है।

दैवीय गुणों की जो सेना आगे बढ़ रही है, उसका सेनानायक अभय है। वह सबसे आगे खड़ा है और उसके पीछे सारी सम्पदाएँ पङ्क्तिबद्ध चलती हैं।

2. सत्त्वसंशुद्धि: – अन्तःकरण की निर्मलता।

'सत्त्वसंशुद्धि:' का अर्थ है चौबीस घण्टे की शुद्धता। हम नहा-धोकर बाहर की स्वच्छता तो प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु सच्ची शुद्धता है अन्तःकरण की निर्मलता। जब मन स्वच्छ और विशुद्ध हो जाए, जब उसमें किसी के प्रति भी द्वेष की भावना शेष न रहे, तभी वास्तविक सत्त्वसंशुद्धि प्रकट होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय में श्रीभगवान् कहते हैं-

“अद्वेषा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥”

अर्थात् सच्चा भक्त वह है जो किसी के प्रति द्वेष नहीं रखता, सबके साथ मैत्री और करुणा का व्यवहार करता है, ममता और अहङ्कार से रहित होता है, सुख-दुःख में समान रहता है और क्षमाशील बनता है।

यहाँ सन्देश स्पष्ट है कि जब तक मन में किसी के लिए भी द्वेष है, तब तक हम आगे नहीं बढ़ सकते। यह बात ध्यान रखने योग्य है - **द्वेष से हम आगे नहीं बढ़ सकते, अद्वेषता होने से हम आगे बढ़ सकते हैं।**

द्वेष हमें पीछे खींचता है, जबकि अद्वेष हमें आगे ले जाता है, **इसलिए यदि आत्म-विकास और ईश्वरानुभूति की ओर बढ़ना है, तो हमें सत्त्वसंशुद्धि: का मार्ग अपनाना होगा।**

प्रतिस्पर्धा और द्वेष का अन्तर-

एक छोटा बालक अपनी कक्षा के अन्य बालक के साथ प्रतिस्पर्धा की भावना रखता है। दोनों ही प्रथम आना चाहते हैं, दोनों ही पूरे प्रयास से आगे बढ़ना चाहते हैं। यहाँ तक तो सब ठीक है, क्योंकि स्वस्थ प्रतिस्पर्धा प्रगति का आधार है, परन्तु यदि इस प्रतिस्पर्धा में द्वेष आ जाए तो मार्ग रुक जाता है। कहने को दोनों मित्र हैं, पर भीतर से यदि एक-दूसरे के प्रति कटुता पालते हैं, तो उनकी मित्रता खोखली हो जाती है।

कल्पना कीजिए-

एक बालक ने दूसरे से गणित का प्रश्न पूछा और दूसरा बालक द्वेषवश उसे जान-बूझकर गलत उत्तर बता देता है, ताकि वह आगे न बढ़ सके। इस स्थिति में जिसने भ्रमित करने का प्रयास किया, वह स्वयं ही प्रगति के मार्ग से भटक गया।

जिसके भीतर यह उदारता है, वही निर्भय बन सकता है और जो द्वेष में उलझा है, वह निडर भी नहीं रह सकता, आगे भी नहीं बढ़ सकता।

निडरता और नेतृत्व

यदि हम निडर नहीं हुए, तो कभी सच्चे अर्थों में नेता भी नहीं बन सकते और निडरता तब ही आती है, जब हम आत्म-संसाधन पर ध्यान देते हैं, जब अपनी शक्ति, अपने समय और अपने ज्ञान को साधते हैं। हमारी असली प्रतियोगिता किसी और से नहीं है। हमारी प्रतियोगिता केवल स्वयं से है। **कल मैं जहाँ था, आज उससे आगे बढ़ने का सङ्कल्प ही वास्तविक प्रतिस्पर्धा है।**

यदि कल मैं दस प्रश्न हल कर पाया था, तो आज बीस प्रश्नों का अभ्यास करने का साहस जुटाऊँ। ज्ञान अर्जन का यह अनवरत प्रयास, रात-दिन एक कर साधना करना। पन्द्रह-बीस प्रश्न पत्रों को धैर्यपूर्वक हल करना, अपनी सीमाओं को तोड़ते हुए स्वयं को परखना, यही अभ्यास धीरे-धीरे उस निडरता को जन्म देता है, जो किसी भी परीक्षा में सफलता का मार्ग खोल देती है।

अभ्यास और परिश्रम, ये ही निडरता की पहली सीढ़ी हैं।

जब यह सीढ़ी चढ़ी जाती है, तो बालक न केवल परीक्षा में उत्तीर्ण होता है, बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने का सामर्थ्य भी अर्जित कर लेता है।

सत्य यह है कि दूसरों की रेखा को छोटा करके अपनी रेखा बड़ी करने वाला कभी आगे नहीं बढ़ सकता। सच्ची प्रगति वही है जिसमें हम अपनी रेखा को बड़ा करें, अपने गुणों और परिश्रम को बढ़ाएँ, न कि दूसरों की उपलब्धियों को घटाएँ।

सत्त्वसंशुद्धि: और अभ्यास

सत्त्वसंशुद्धि: का अर्थ केवल बाहरी स्वच्छता भर नहीं है, बल्कि भीतर की निर्मलता है।

श्रीभगवान् कहते हैं, "हे अर्जुन!

अद्वेषा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च

अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति अद्वेषता और करुणा से युक्त मैत्री भाव ही सच्ची शुद्धता है।" जब हृदय में किसी के प्रति द्वेष का लेश भी न रहे, जब दृष्टि सब ओर मैत्री और करुणा का ही रङ्ग बिखरे, तभी सत्त्व की यह पवित्र लता हमारे भीतर अङ्कुरित होती है। बारहवें अध्याय में भक्त के जिन लक्षणों का वर्णन आया है और पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ तक जिन गुणों को अर्जित करने का सङ्केत मिलता है, यदि उन लक्षणों का अंश भी हमारे जीवन में उतरने लगे तो समझना चाहिए कि श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन सही दिशा में बढ़ रहा है।

यही तो गीता परिवार का सन्देश है- **गीता पढ़े, गीता पढ़ाये, जीवन में लायें**

**पढ़ना नहीं, जीना;
सुनना नहीं, साधना और
केवल जानना नहीं, बल्कि आत्मा की गहराई में अनुभव करना।**

यह केवल पढ़ाई नहीं, बल्कि अभ्यास है। अभ्यास अर्थात् प्रयास। जब यह अभ्यास आरम्भ होता है तो भीतर कुछ अनोखी अनुभूतियाँ जन्म लेती हैं। ऐसी अनुभूतियाँ जो केवल शास्त्र पढ़ने से नहीं, बल्कि उन्हें जीवन में ढालने से ही सम्भव होती हैं।

विज्ञान और ज्ञान का भेद

जो बाहर से आता है, वह विज्ञान है और जो भीतर से प्रकट होता है, वही ज्ञान है। विज्ञान को हम आँखों से देख सकते हैं, उसके गुणों और धर्मों को कसौटी पर परख सकते हैं। विज्ञान परिवर्तनशील है।

ज्ञान ऐसा नहीं है। ज्ञान वह नहीं जो किसी पुस्तक के पन्नों पर लिखा हो या जो किसी के मुख से हमने सुना हो। वह सब तो विज्ञान है। विवेचन आपके कानों तक पहुँचा, वह विज्ञान है, लेकिन जब कोई विचार आपके भीतर से, आपके अनुभवों से प्रस्फुटित होता है तभी वह ज्ञान कहलाता है।

सोचिए-

पहले हमारे पास तार वाले टेलीफोन (Landline) थे,

फिर पेजर आया, फिर मोबाइल आया।

धीरे-धीरे 2G, 3G, 4G, और अब 5G तक पहुँच गए।

आज तो वीडियो कॉल पर हम हजारों मील दूर बैठे व्यक्ति को सामने देख सकते हैं। यह सब विज्ञान है, सदैव बदलता, बढ़ता और रूप बदलता हुआ।

**ज्ञान सनातन है,
इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता भी सनातन है।
पाँच हजार वर्ष पूर्व जो सत्य कहा गया था,
वह आज भी उतना ही सत्य है।**

ज्ञान की अनुभूति का उदाहरण लें-

यदि किसी ने जीवन में कभी मिठास का स्वाद ही न चखा हो तो वह कैसे समझेगा कि "मीठा" क्या होता है? नमक भी सफेद है, चीनी भी सफेद है, रङ्ग देखकर कैसे पहचानेंगे कि कौन सा मीठा पदार्थ है? किसी को कहना पड़ेगा- "खाकर देखो।" जब जीभ पर स्वाद की अनुभूति होगी तभी "मीठा" का अर्थ समझ में आएगा, यही है ज्ञान।

अनुभूति की गहराई।

इन्द्रियाँ हमें वस्तुओं का अनुभव कराती हैं,
पर आत्मा को जो अनुभव मिलता है,
वह और भी सूक्ष्म है।
क्षमा करके जो शान्ति मिलती है,
दूसरों की भलाई करके जो आनन्द मिलता है,
वह अनुभव केवल ज्ञानयोग के मार्ग पर चलकर ही सम्भव है।

श्रीभगवान् कहते हैं कि "ज्ञानयोगव्यवस्थिति: - इस ज्ञानयोग को पाने के लिए अपने आप को तैयार करना यह तीसरी दैवीय गुण सम्पदा है।"

3. ज्ञानयोगव्यवस्थिति: — अपने आप को तैयार करना

श्रीभगवान् गीताजी में कहते हैं-

"ज्ञानयोगव्यवस्थिति:" अर्थात् ज्ञानयोग प्राप्त करने के लिए स्वयं को साधना द्वारा तैयार करना ही दैवीय सम्पदा का तीसरा लक्षण है।

अब प्रश्न यह है कि स्वयं को कैसे तैयार किया जाए? इसका पहला कदम है - बैठने की सही स्थिति।

जब हम साधना अथवा ध्यान के लिए बैठते हैं तो मस्तिष्क, ग्रीवा (गर्दन) और मेरुदण्ड (रीढ़), तीनों को एक सीध में रखना आवश्यक है। सीधा बैठने का वास्तविक अभ्यास तभी होगा जब हम अपनी जङ्घाओं (thighs) पर पूरा भार देकर बैठें, न कि केवल नितम्ब (hips) पर टिककर। यदि आप कुर्सी पर हैं तो थोड़ी पीठ पीछे करके फिर धीरे-धीरे रीढ़ को सीधा करें। इस स्थिति में प्रारम्भ में आप बीस-पच्चीस मिनट आराम से बैठ पायेंगे। अभ्यास करते-करते यह अवधि बढ़ाई जा सकती है। सीधे बैठने का लाभ यह है कि आपका डायफ्राम (श्वसन-पट) सही ढङ्ग से कार्य करने लगता है। जब डायफ्राम नीचे उतरता है, तो श्वास गहरी होकर फेफड़ों के निचले हिस्से तक पहुँचती है। यह गहरी श्वास आपके शरीर में अधिक मात्रा में ऑक्सीजन पहुँचाती है।

जैसे ही मस्तिष्क तक अधिक ऑक्सीजन पहुँचती है,
वैसे ही हमारी बुद्धि शुद्ध और तेजस्वी होने लगती है।
मन की चञ्चलता शान्ति में परिवर्तित होने लगती है।
यही अभ्यास धीरे-धीरे हमें
ज्ञानयोग की अवस्था की ओर ले जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान् ने कहा है- "मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः"

मन और बुद्धि को एक सूत्र में बाँधने का यदि कोई सहज साधन है, तो वह है ऑक्सीजन की मात्रा को बढ़ाना।

जैसे ही श्वास गहरी होकर शरीर में अधिक ऑक्सीजन पहुँचाती है, वैसे ही सजगता (alertness) बढ़ती है, सतर्कता प्रखर होती है। मस्तिष्क पूर्ण रूप से जागरूकता में रहता है, चेतना (consciousness) अपने शुद्ध स्वरूप में टिकती है। इसके विपरीत, जब हम क्रोध या आवेश में चले जाते हैं तो हमारी श्वास उथली हो जाती है, ऑक्सीजन स्तर अचानक गिर जाता है। यही कारण है कि क्रोधी मनुष्य का विवेक लुप्त हो जाता है।

हमारे शास्त्रों ने इस स्थिति को आसुरी प्रवृत्ति से जोड़ा है इसलिए असुरों को सदैव सीङ्गों से युक्त दिखाया गया है। ये सीङ्ग प्रतीक हैं उस आवेग और आक्रामकता के, जहाँ बुद्धि दब जाती है और केवल आवेश शासन करता है।

रावण का पराक्रम और अहङ्कार

रावण कोई साधारण व्यक्ति नहीं था। वह महाज्ञानी और महान पराक्रमी था किन्तु ज्ञान और शक्ति यदि अहङ्कार के साथ जुड़ जाँएँ तो विनाश का मार्ग प्रशस्त होता है। जब उसकी माता ने भगवान् श्रीमहादेव के दर्शन की इच्छा प्रकट की, तो रावण लङ्का से चल पड़ा। उसने तो सोचा शिवजी को ही उठा लाऊँ और इतना ही नहीं, उसने सङ्कल्प लिया कि पूरा कैलाश पर्वत ही ले जाऊँगा।

रावण ने अपने बल से कैलाश को उठाना आरम्भ किया। नवग्रहों को वह पहले ही बन्दीगृह में कैद कर चुका था। जब कैलाश डोलने लगा तब भगवान् महादेव ने ध्यानावस्था से अपनी नेत्रों को खोला और मुस्कराए। वे समझ गए- यह बालक रावण अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है।

श्रीभगवान् शिव ने पद्मासन मुद्रा खोलकर एक पैर के अङ्गूठे से पर्वत को नीचे दबाया। क्षणभर में पर्वत का भार कई गुना हो गया। रावण की दोनों भुजाएँ पर्वत के नीचे दब गईं, परन्तु उस विकट स्थिति में भी रावण जानता था कि भोलेनाथ कृपालु हैं। वह गाने लगा **शिवताण्डव स्तोत्र**, जिसकी प्रत्येक पङ्क्ति से भक्ति और अद्वितीय छन्दनाद फूटता है।

॥ शिव तांडव स्तोत्र ॥

जटाटवीगलज्जलप्रवाहपावितस्थले

गलेऽवलम्ब्य लम्बितां भुजङ्ग-तुङ्ग-मालिकाम् । डमडुमडुमडुमन्त्रिनादवडुमर्वयं

चकार चण्डताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम् ॥1॥

जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्त्रिलिम्पनिर्झरी विलोलवीचिवल्लरीविराजमानमूर्धनि । धगद्धगद्धगजलल्ललाटपट्टपावके
किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम ॥2॥

जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं और भी आनन्द आता है

अखर्वसर्वमङ्गलाकलाकदम्बमञ्जरी- रसप्रवाहमाधुरीविजृम्भणामधुव्रतम् ।

स्मरान्तकं पुरान्तकं भवान्तकं मखान्तकं गजान्तकान्धकान्तकं तमन्तकान्तकं भजे ॥१०॥

उस स्तुति ने महादेव का हृदय प्रसन्न कर दिया। महादेव ने अपना अङ्गूठा उठाया, रावण को बन्धन मुक्त किया और प्रसन्न होकर उसे एक अद्वितीय खड्ग (चन्द्रहास तलवार) उपहार स्वरूप दी। साथ ही माता पार्वती और कुमार कार्तिकेय सहित दर्शन भी दिये।

इतने सबके बाद भी दम्भ-दर्प के कारण रावण का सर्वनाश हुआ। रावण को चित्रों में प्रायः सीङ्गों के साथ दिखाया जाता है। वास्तव में उसके सिर पर सीङ्ग नहीं थे, परन्तु उसके भीतर जो अहङ्कार और द्वेष की वृद्धि हुई थी, उसे सीङ्गों का रूपक देकर हमारे मनीषियों ने चित्रित किया ताकि पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ समझ सकें कि जब अहङ्कार सिर चढ़ता है तो वह सीङ्गों के समान मनुष्य को कुरूप बना देता है।

किसी के प्रति द्वेष नहीं, किसी के प्रति क्रोध नहीं। जब मन शान्त और निर्मल होता है, तब ही शरीर और मस्तिष्क का ऑक्सीजन स्तर सही रहता है। यदि ऑक्सीजन कम हो, तो चेतना मन्द पड़ जाती है, मन और बुद्धि का सम्पर्क टूट जाता है। हम शून्य हो जाते हैं। शून्य होने का अर्थ है ऑक्सीजन की कमी।”

इस स्थिति से उबरने का मार्ग है- योग का सहारा।

योग के माध्यम से हम अपनी श्वास को नियन्त्रित करना सीखते हैं और श्वास पर नियन्त्रण के साथ आसन का सामर्थ्य भी विकसित करते हैं। यह योग, यम और नियम के पालन के बिना अधूरा है। ध्यान रहे- आसन छूट सकते हैं, प्राणायाम छूट सकता है, परन्तु यम और नियम का पालन अनिवार्य है।

आरम्भ होता है आसान से, इसलिए सीधा बैठना सीखना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रारम्भ में शरीर का समत्व सीखें,
फिर श्वास का समत्व।
जब शरीर और प्राण का सन्तुलन स्थापित हो जाता है,
तभी मन का ध्यान सम्भव होता है और
तभी हम पाते हैं-
वह अनुभव, वह अनुभूति, जो केवल अभ्यास और साधना से ही मिलती है।

4. दान

श्रीभगवान् ने चौथी दैवीय सम्पदा के रूप में दान का महत्त्व बताया। दान का अर्थ केवल धन बाँटना नहीं है। जो कुछ भी हमारे पास है- धन, ज्ञान, श्रम या कोई अन्य साधन उसे अन्य लोगों के हित में लगाया जाए।

बारहवें अध्याय में श्रीभगवान् कहते हैं-

“हे अर्जुन! अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।”

अर्थात्—निरपेक्ष, निर्मल, दक्ष और उदासीन भाव से कर्म करना।

दान का सार यही है कि जब हम निरपेक्ष भाव से देते हैं तो वह कर्मयोग की सर्वोच्च अवस्था में पहुँच जाता है। दान केवल देने का नाम नहीं बल्कि अभ्यास, चिन्तन और सृजन का मार्ग है।

परम पूज्य स्वामी जी मान्यता नहीं देते कि केवल रिकॉर्ड किए गए सत्र चला दिये जाएँ। वे कहते हैं कि हर शनिवार को वही बात कहनी पड़े तो भी कोई बात नहीं। ऐसा क्यों? विवेचक दिन भर अपने-अपने व्यवसाय में व्यस्त रहते हैं। स्वाभाविक है, उसके लिए विवेचकों को पढ़ना पड़ता है, चिन्तन-मनन करना होता है, बोलना होता है, परन्तु विवेचन और ज्ञान बाँटने के क्रम में उनकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है, हृदय व्यापक होता है तथा उनका व्यक्तित्व और अधिक परिपक्व बनता है। विवेचक विचार और अनुभव दूसरों के साथ बाँटता है तो उसके भीतर नया सृजन, नया चिन्तन उत्पन्न होता है।

जो घटता नहीं, बल्कि लगातार बढ़ता है, वह है दान का प्रभाव। दान का प्रभाव केवल पाने वाले पर ही नहीं, बल्कि देने वाले पर भी पड़ता है।

इस प्रकार, दान केवल वस्तु का आदान-प्रदान नहीं बल्कि मन, बुद्धि और आत्मा का विस्तार है। जब हम बिना किसी अपेक्षा के देते हैं तब हमारा आत्म-विकास, कर्मयोग और समाजसेवा सभी साकार होते हैं।

5. पाँचवी गुण-सम्पदा- दमन

श्रीभगवान् ने पाँचवी गुण-सम्पदा के रूप में दमन का वर्णन किया है। पहली दृष्टि में यह सुनकर आश्चर्य होता है कि “क्या दमन भी कोई दैवीय गुण हो सकता है?” परन्तु गहराई से समझें तो इसका अर्थ है- अपनी ही नकारात्मक प्रवृत्तियों, अपनी ही आसुरी वृत्तियों को नियन्त्रित करना।

यदि हम थोड़ा सा भी दमन का अभ्यास करें तो धीरे-धीरे यह हमारी स्वाभाविक आदत बन जाता है। यह दमन दूसरों को दबाने का नहीं बल्कि स्वयं को साधने का साधन है, इसलिए दमन का अर्थ है- अपने मन को रोकना, अपने भीतर उठ रही नकारात्मकता को दबाना। यही आत्म-नियन्त्रण अन्ततः हमें ऊँचाइयों तक पहुँचाता है।

6. छठी गुण-सम्पदा- यज्ञ

हमारे मन में यह सामान्य धारणा रही है कि अग्नि प्रज्वलित कर उसमें आहुति देना ही यज्ञ है। इसे हवन यज्ञ कहते हैं, परन्तु वास्तव में, निःस्वार्थ भाव से किया गया प्रत्येक कर्म ही यज्ञ कहलाता है।

जब हम किसी को निःस्वार्थ भाव से आर्थिक सहायता करते हैं, उसे कहते हैं द्रव्य-यज्ञ। जब हम अपने आपको थोड़ा और संयमित करते हैं, थोड़ी और मेहनत करते हैं तो वह भी यज्ञ है। किसी के अस्वस्थ होने पर यदि हम अपने घर के अतिरिक्त उनके घर के पाँच लोगों का भोजन भी बना दें, तो यह भी यज्ञ है। अपने आपको तपाकर किया गया प्रत्येक कार्य तप-यज्ञ है।

स्वयं अध्ययन करना यज्ञ है और उस ज्ञान को दूसरों तक बाँटना भी यज्ञ है। आपके सम्मुख बैठकर कुछ कहना भी एक यज्ञ है। यह ज्ञानयज्ञ है।

जीवन में ऐसे अनेक प्रकार के यज्ञ सम्भव हैं। जो जितना निःस्वार्थ भाव से करता है, उसके जीवन में उतनी ही गहराई और समृद्धि आती है।

7. सातवीं गुण-सम्पदा- स्वाध्याय

शास्त्रों में कहा गया है कि ज्ञान केवल सुन लेने से आत्मसात् नहीं होता। स्वाध्याय अर्थात् स्वयं बैठकर गहराई में अध्ययन करना, मनन करना। यह साधना का मूल है। विवेचन सुन लिया, पर जब तक उस पर चिन्तन-मनन करके उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयास नहीं करते, तब तक उसका फल अधूरा रह जाता है, इसलिए विवेचन सुनने के बाद 'साधक-सञ्जीवनी' जैसे ग्रन्थों को लेकर गहन अध्ययन करना, यही स्वाध्याय है।

8. आठवीं गुण-सम्पदा- तप

तप- थोड़ी अधिक मेहनत, थोड़ा अधिक संयम। अपने शरीर को तपाकर, अपनी इन्द्रियों को साधकर सद्गति की ओर बढ़ना।

9. नवमीं गुण-सम्पदा- आर्जवम्

आर्जवम् अर्थात् व्यवहार में सरलता, विनम्रता और मधुरता। मीठे, विनम्र वचन मन को शान्ति देते हैं। जो साधक अपने आचरण में विनम्र, मधुर और सरल रहता है, वही सबके हृदय में स्थान पाता है।

स्वाध्याय से विवेक प्रकट होता है, तप से शक्ति आती है और आर्जवम् से समाज में प्रेम व सद्भाव की धारा बहती है।

10. दसवीं गुण-सम्पदा- अहिंसा

अहिंसा का अर्थ केवल यह नहीं कि किसी को शारीरिक चोट न पहुँचाई जाए। सच्ची अहिंसा यह है कि मन, वचन और कर्म से किसी को पीड़ा न हो। मारना तो दूर की बात है, हमारे शब्द भी किसी के हृदय को आहत न करें, यही अहिंसा की वास्तविक परिभाषा है।

यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है- जब श्रीभगवान् स्वयं अर्जुन से कहते हैं, "युद्ध कर", तो यह कैसे अहिंसा हुई? क्या यह विरोधाभास नहीं?

वास्तव में नहीं, क्योंकि जब अत्याचारी, दुराचारी और निर्दयी व्यक्ति समाज का विनाश करने लगें, तो उनका दमन करना ही अहिंसा कहलाता है। यदि कसाब जैसे आतङ्की को न्यायालय दण्ड न देता और उसे खुला छोड़ देता, तो कितने ही निर्दोष लोग उसकी गोली का शिकार बनते। उसका दण्ड देना ही निर्दोषों की रक्षा के लिए अहिंसा का स्वरूप है, इसलिए श्रीभगवान् ने कहा कि "दुर्योधन, दुःशासन और ऐसे ही कपटी व अत्याचारी व्यक्तियों का मर्दन करो।" उनका नाश करना पाप नहीं, बल्कि धर्म है। जब सारे प्रयास करने के बाद भी दुर्योधन टस से मस नहीं हुआ, तब उसका वध आवश्यक बन गया।

महाभारत में कर्ण और श्रीकृष्ण का संवाद स्मरणीय है।

कर्ण ने कहा- "मैं निहत्था हूँ, मुझ पर बाण मत चलाओ।"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया-

"जब अभिमन्यु को अकेले व निहत्थे देखकर छः महारथियों ने घेर लिया था, तब कहाँ गया था तुम्हारा धर्म? जब द्रौपदी को रजस्वला होते हुए भी सभा में घसीटा गया, तब किसने धर्म की रक्षा की?"

अतः-

**जहाँ निर्दोषों पर अन्याय हो रहा हो,
वहाँ अन्यायियों का विनाश करना ही सच्ची अहिंसा और धर्म है।**

सामान्य जीवन में अहिंसा का अर्थ है-

**अपने मन को शान्त रखना,
वाणी को मधुर बनाना और
कर्मों को ऐसा रखना कि
किसी प्राणी को दुःख न पहुँचे।**

11. सत्य- सत्य बोलना, सत्य सोचना और सत्य का आचरण करना-यही दैवीय-गुण की शोभा है।

12. अक्रोध- क्रोध न करना, संयमित रहना, परिस्थितियों को धैर्यपूर्वक स्वीकार करना।

13. त्याग- त्याग केवल वस्तुओं का नहीं, बल्कि अपने अहङ्कार, स्वार्थ और लोभ का त्याग करना ही सच्चा त्याग है।

14. शान्ति- हम तो छोटी-छोटी बातों पर अशान्त हो जाते हैं। जिसने अपने भीतर शान्ति पा ली, वह अडिग और अचल बना रहता है।

15- अपैशुनम् (निन्दा न करना)- 'पैशुनम्' का अर्थ है- दूसरों की पीठ पीछे उनकी बुराई करना, उन पर दोषारोपण करना। यह हमारी सामाजिक आदत बन चुकी है। जैसे उदाहरण लें-

बहू कहती है, "पीहर से मेहमान आ रहे हैं पर मुझे किटी पार्टी में जाना पड़ेगा। आप थोड़ी देर उनका ध्यान रख लीजिए, मैं शीघ्र लौट आऊँगी।"

सास उत्तर देती है- "क्या किटी पार्टी इतनी आवश्यक है?"

तब बहू कहती है, "हाँ, यदि मैं नहीं गई तो मेरी निन्दा होगी। वहाँ जो अनुपस्थित रहते हैं, उन्हीं की बुराई होती है।"

यह स्थिति स्पष्ट करती है कि निन्दा से बचने के लिए भी हम निन्दा करने वालों की भीड़ का हिस्सा बन जाते हैं।

अपैशुनम् अर्थात् निन्दा न करना- यह महत्त्वपूर्ण है, इसे एक हफ्ते कर कर देखें, बड़ा सुकून मिलेगा जब एक सप्ताह आप किसी की भी निन्दा न करें।

अभ्यास यह होना चाहिए कि यदि कहीं तीसरे की बुराई की जा रही हो तो वहाँ से तुरन्त हट जाएँ और उससे भी अधिक आवश्यक यह है कि उस बुराई को अपने मन में प्रवेश ही न करने दें। मन की पवित्रता तभी बनी रहेगी जब हम निन्दा और दोषारोपण से स्वयं को दूर रख पाएँगे।

16 दया- सभी प्राणी-मात्र के लिए दया का भाव रखें।

17 अलोपलुप्त्वम्- किसी में भी आसक्त न होना।

लोलुप्त- किसी चीज के लिए अटक जाना, ऐसा आकर्षक हो जाना कि उसके बिना नहीं रह सकता, उसके सङ्ग के लिए अधीर हो जाना।

अलोपलुप्त्वम् - असङ्गत हो जाना, यह भी एक महत्त्वपूर्ण दैवीय गुण है।

18 मार्दवम् - इसका अर्थ है ऐसा व्यवहार करना जिसमें कोमलता हो, मधुरता हो। हमारी वाणी, हमारे शब्द, हमारे आचरण से किसी को भी कष्ट न पहुँचे, किसी को बुरा न लगे।

यह केवल औपचारिक मधुरता नहीं, बल्कि भीतर की सहज विनम्रता है। श्रीकृष्ण ने स्वयं यह आदर्श रखा। उन्होंने विषाद से ग्रस्त अर्जुन से कहा-

“क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ”

(अर्जुन! नपुंसक मत बनो)।

सुनने में यह कठोर लगता है, मानो श्रीभगवान् ने उसे डाँट दिया हो, पर वास्तव में यह प्रेम से, मुस्कुराते हुए कहा गया वचन था इसलिए अर्जुन ने इसे अपमान नहीं माना, बल्कि प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया।

यही है मार्दवम्- मुस्कुराकर बोलना, कोमलता और मधुरता से अपनी बात कहना। यह गुण सम्बन्धों को दृढ़ बनाता है और जीवन को सहजता से भर देता है।

19. हीर (लज्जा)- यह भी दैवीय सम्पदा है। कोई बुरा कार्य करूँ तो मुझे लज्जा आए। लज्जा बनाए रखना भी एक दैवीय गुण सम्पदा है।

20. चापलम् (चञ्चलता पर नियन्त्रण)- चापल्यम् का अर्थ है मन और बुद्धि की चञ्चलता। चापलम् यानी चञ्चलता को नियन्त्रित करना, बुद्धि की स्थिरता।

21. तेजः का अर्थ है आत्मिक आभा। जब साधक दैवीय गुणों से युक्त होने लगता है तो उसके व्यक्तित्व से एक तेज झलकने लगता है।

22. क्षमा (क्षमा करने की क्षमता)- क्षमा सबसे सुन्दर दैवीय गुण है। परिवार या समाज में यदि किसी से कोई भूल हो जाए तो सहज भाव से उसे क्षमा कर देना चाहिए। क्षमा करने से मन हल्का हो जाता है और हृदय निर्मल हो उठता है। क्षमा माँगना भी उतना ही दैवीय है, जितना क्षमा देना। यदि मेरा कोई आचरण किसी को चोट पहुँचा दे, तो मैं निडर होकर क्षमा माँगूँ- यही विनम्रता का सच्चा रूप है। क्षमा और करुणा से सम्बन्ध प्रगाढ़ होते हैं और जीवन का बोझ हल्का हो जाता है।

23. धृति- अर्थात् धैर्य।

24. शौच- अर्थात् स्वच्छता।

25. अद्रोह का अर्थ है बैर की भावना न होना।

26. अतिमानिता (अहङ्कार / 'मैं' का भाव)- अतिमानिता वह सूक्ष्म शत्रु है जो भीतर से धीरे-धीरे उठता है, “यह मैंने किया, यह मेरे कारण हुआ।” गर्व और अहङ्कार की जड़ें इतनी गहरी हैं कि यह पता ही नहीं चलता कि कब हम इसका शिकार हो गए, इसलिए इसे अन्तिम स्थान दिया गया है, क्योंकि यह अन्दरूनी रणभूमि में अचानक हमला कर सकता है।

नातिमानिता का अर्थ है- इस अहङ्कार को पीछे रखना। जब “मैं” का भाव पीछे हटता है, तभी “हम” और अन्ततः ईश्वर की कृपा

सामने आती है। यह अहङ्कार बाहरी नहीं, बल्कि हमारे भीतर छिपा होता है।

एक दृष्टान्त है-

छोटे बालक ने पूछा- "सत्य बोलना अच्छा है या पिता की आज्ञा का पालन करना?"

यदि वह पिता की आज्ञा के विपरीत सच बोलता तो अधर्म होता, दूधवाले के पूछने पर यदि उसने कहा कि पिताजी अन्दर हैं, जबकि पिता ने मना किया, तो धर्म का उल्लङ्घन होता।

इस प्रकार दो धर्मों के बीच युद्ध छिड़ जाता है। पूछने पर बालक ने कहा, "मैंने तो झूठ बोल दिया।"

जब दो धर्मों के बीच युद्ध छिड़ता है तब बड़े युद्ध धर्म का पालन करना पड़ता है। अर्जुन भी अपने गुरु और परिवार के बीच फँस गये- "मैं अपने गुरु को कैसे मारूँ?"

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्

यह परिवार और धर्म का एक बड़ा युद्ध था। जब मन भ्रमित हुआ और युद्ध छोड़ने का विचार आया, श्रीभगवान् ने उसे फिर खड़ा किया- अभय और नातिमानिता के माध्यम से।

अभय और नातिमानिता, ये अहिंसा और सत्य के ही अलग-अलग रूप हैं। ये सब दैवीय गुण अहिंसा के रूप हैं, सब सत्य के रूप हैं लेकिन इतनी बड़ी नाव में आसुरी सम्पदा का एक छोटा सा भी छेद हो जाए तो इन छब्बीस सम्पदाओं की नाव डूब जाती है।

आसुरी सम्पदा मात्र छः हैं। आसुरी सम्पदा श्रीभगवान् ने एक ही श्लोक में सम्पूर्ण कर दी।

16.4

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः(फ्) पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं(ञ्) चाभिजातस्य, पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥16.4॥

हे पृथानन्दन ! दम्भ करना, घमण्ड करना और अभिमान करना, क्रोध करना तथा कठोरता रखना और अविवेक का होना भी - (ये सभी) आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए मनुष्य के (लक्षण) हैं।

विवेचन- आसुरी सम्पदा केवल छः हैं। इनमें से एक भी आ जाए तो जो छब्बीस दैवीय गुण हैं, वे सब समाप्त हो जाते हैं।

दम्भ- ढोङ्ग करना, ढकोसले करना,

दर्प- घमण्ड,

अभिमान- अहङ्कार,

क्रोध- गुस्सा,

पारुष्य- कठोरता,

अज्ञान- अविद्या।

ये छः आसुरी सम्पदाएँ हैं। जैसे नाव में एक छोटी सी कील भी डूबने का कारण बन सकती है, वैसे ही ये छः दोष हमारी जीवन-नौका के लिए घातक हैं।

नाग का छोटा बच्चा भी उतना ही खतरनाक होता है जितना भुजङ्ग है। इस छोटे से भुजङ्ग का विष भी भयङ्कर भीषण होता है। अग्नि की छोटी सी चिङ्गारी पूरे भवन को भस्म कर सकती है, वैसे ही ये छः दोष हमारी आत्मा और साधना को जला सकते हैं।

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं-

'मरण ओढवले म्हणजे शेळीला जशी सात नांग्यांची इंगळी चावावी तसे हे सहाही दोष म्हणजे काय

"जिसका विनाश निश्चित है, उसके विनाश का समय इन्हीं छः में से एक दोष सुनिश्चित कर देता है।"

मोक्ष के मार्ग में, जब हम दैवीय गुणों से युक्त नाव में सवार होते हैं, आसुरी दोष किसी नुकीले पत्थर की तरह टकरा जाए तो नाव में छेद कर देता है।

रावण को ही देखिए- विद्वान, सङ्गीतज्ञ, शिवभक्त, महान व्यक्तित्व लेकिन एक अहङ्कार ने उसे पतन की ओर धकेल दिया। उसकी विद्वत्ता और भक्ति के बावजूद, एक आसुरी गुण ने सब कुछ नष्ट कर दिया।

श्रीभगवान् ने स्पष्ट किया-

दैवीय और आसुरी गुण सम्पदाएँ हमारे अन्दर हैं। आसुरी दोषों से दूर कैसे रहें, कैसे अपने भीतर देवी गुणों का विकास करें, इसका मार्ग उन्होंने अगले श्लोकों में विस्तार से बताया।

हमें स्वयं का आँकलन प्रारम्भ कर देना चाहिए कि हममें कितनी दैवीय सम्पदाएँ हैं। अगले सप्ताह तक कुछ प्रमुख दैवीय गुणों को अपनाकर, अपने जीवन को और अधिक उज्वल और सार्थक बनाने का प्रयास करें।

इसी के साथ सत्र का समापन हुआ और प्रश्नोत्तर सत्र का आरम्भ हुआ।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नकर्ता- गायत्री दीदी

प्रश्न- आपने अभी बताया कि सिर के ऊपर सीङ्ग थे। मैंने कहीं पढ़ा था कि रावण चौदह भागों का अधिपति था। उसके लिए ये एन्टेना थे जिनके माध्यम से वह अपने राज्य में होने वाली गतिविधियों पर दृष्टि रखता था। इसे किस प्रकार समझें?

उत्तर- सीङ्ग का प्रयोजन मारने के लिए ही होता है। बैल के माथे पर सीङ्ग हैं जो उसकी रक्षा के लिए ही होते हैं।

यदि मानव के पास सीङ्ग हों तो वह तो आसुरी गुण-सम्पद् है। यह हो सकता है कि उसके पास कुछ यन्त्र होंगे पर सिर पर एन्टेना की बात तो सही नहीं प्रतीत होती। यदि ऐसा होता तो श्रीभगवान् भी तो चारों ओर दृष्टि रखते हैं, उन्हें भी दिखाते। नारद मुनि को भी दिखाते। उन्हें शिखा अर्थात् चोटी दी। सीङ्ग केवल आसुरी गुण-सम्पद् व्यक्ति को दर्शाने का एक प्रतीक मात्र है।

प्रश्नकर्ता- लता अमीन भैया

प्रश्न- भय से बाहर कैसे निकलें?

उत्तर- यह आपका अकेले का प्रश्न नहीं है। लगभग दस प्रतिशत बच्चों तथा बड़ों के साथ ऐसा ही होता है। भय एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

इसका बहुत सटीक उपचार श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया है। सर्वप्रथम आप केवल पाँच मिनट सीधे बैठना आरम्भ करें। सीधे बैठकर लम्बी तथा गहरी श्वास लें। कुछ समय तक श्वास को रोकें फिर जितने समय में श्वास अन्दर ली थी, उतने ही समय में धीरे-धीरे उसे छोड़ें। अन्य प्राणायाम में दोगुने समय में श्वास छोड़ते हैं किन्तु भय पर विजय प्राप्त करने के लिए जो प्राणायाम बताया गया है-

"प्राणायामौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ"

अर्थात् प्राण तथा अपान, दोनों को समान करना है। बाहर जाती हुई श्वास प्राण है तथा अन्दर आती हुई श्वास अपान है। इन दोनों को समान करना है। इसके साथ ही हम अपनी नासिका के अग्रभाग पर ध्यान केन्द्रित करें और यदि कोई मन्त्र आपके गुरु ने दिया है तो उसका जाप करें, नहीं तो श्रीमद्भगवद्गीता हमारे गुरु-स्थान पर हैं तो हम "श्रीकृष्ण शरणं मम" का जाप करें। आप अपने मन में इस मन्त्र को बोलते हुए श्वास अन्दर लें तथा पुनः इस मन्त्र को बोलते हुए श्वास बाहर छोड़ें। ऐसा कम से कम दस बार नित्य करें। भय हमारे शरीर में ऑक्सीजन स्तर को कम कर देता है। यदि ऑक्सीजन स्तर को बढ़ा दिया जाए तो भय स्वतः ही कम हो जाता है।

प्रश्नकर्ता- मीना दीदी

प्रश्न- श्रीगणेश के विसर्जन के समय, आरती करते वक्त आँखें क्यों भर आती हैं?

उत्तर- जिसके लिए दस दिनों तक लाड़-प्यार किए, उसके बिछड़ने पर आँखें भर आना स्वाभाविक है। यह भक्ति का भाव है जो आँखों से झलकता है। यह सच्ची भक्ति का प्रतीक है। मन से ऊपर विवेक होना चाहिए। "मूर्ति का विसर्जन मेरे मन-मस्तिष्क के विस्तार-सृजन के लिए है," इस भाव के साथ कर्त्तव्य की भावना से किया जाए कि "आज तक मैंने तुम्हें मूर्ति में देखा; अब मैं सबमें देखूँ।"

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।"

प्रश्नकर्ता- प्रिंसी दीदी

प्रश्न- बारहवें अध्याय में हमने पढ़ा है कि नाम-स्मरण करने से भी योग प्राप्त होता है। तो मैं जानना चाहती हूँ कि हमारे यहाँ बहुत सारे देवी-देवता हैं तो हम कौन सा नाम-जप करें?

उत्तर- श्रीभगवान् ने यह कहीं नहीं कहा कि श्रीकृष्ण का नाम लीजिये।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

श्रीभगवान् ने कहा है, "मैं" तो यहाँ "मैं" का अर्थ श्रीकृष्ण नहीं है। यदि श्रीकृष्ण होते तो वासुदेव उवाच होता। विराट रूप में दिखाया है। पूरी महाभारत में वासुदेव उवाच कहा गया है किन्तु केवल श्रीमद्भगवद्गीता के अट्टारह अध्यायों में श्रीभगवानुवाच कहा गया है। उस समय वे परम तत्त्व श्रीकृष्ण के मुख से प्रस्फुटित हो रहे हैं। श्रीकृष्ण ने वहाँ अपना विराट रूप दिखाकर यह श्लोक कहा है, इसलिए यहाँ इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रीकृष्ण की ही उपासना है।

सनातन धर्म की यह बहुत बड़ी विशेषता है। हमारे यहाँ किसी भी देवी-देवता की उपासना करने की स्वतन्त्रता है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति की सोच, रूप, स्वभाव आदि भिन्न-भिन्न है। जिसमें जिसकी रुचि हो, आकर्षण हो, उसकी उपासना करें।

श्रीकृष्ण के भी अनेक रूप हैं। उनका बाल-रूप है, गोपाल-रूप है, राधा-कृष्ण का रूप है, मदन मोहन का रूप है, बंसी बजैया वाला रूप है, मुरलीधर रूप है। यह अधिकार आपको दिया गया है कि जिसके प्रति आपका स्नेह का भाव है, आप उसकी पूजा-अर्चना करें। जिसके प्रति स्वभावगत आकर्षण लगे, उस ईश्वर की पूजा करें, चाहे हनुमान जी हों, देवीजी हों, कृष्णजी हों, श्रीराम हों, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। आपके अन्तर्मन से पुकार उठनी चाहिए कि ये मेरे इष्ट हैं, उन्हीं का नाम-जप करें। मार्ग अनेक हैं, आपको अपने लिए मार्ग स्वयं चुनना है।

प्रश्नकर्ता- सन्तोष सिसौदिया भैया

प्रश्न- श्लोक क्रमाङ्क चार में दर्प तथा अभिमान, दोनों का अर्थ एक जैसा लगता है। कृपया स्पष्ट करें?

उत्तर- दर्प का अर्थ है घमण्ड और किसी वस्तु पर जो होता है, वह अभिमान है। घमण्ड तथा अभिमान में बहुत अन्तर है।

प्रश्नकर्ता- पद्मा दीदी

प्रश्न- मेरा बेटा ऑस्ट्रेलिया में डॉक्टरी पढ़ रहा है पर शादी करने को बोला तो कहता है कि "आप गीताजी पढ़ती हैं तो बताईये कि गीताजी में कहाँ लिखा है कि विवाह करना चाहिए?" कृपया मार्गदर्शन कीजिये।

उत्तर- भगवान् श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी से विवाह किया था तथा और भी अनेक विवाह किए थे। अभी आपका पुत्र अध्ययन कर रहा है, वह आगे जाकर विवाह करेगा। आप आग्रही न बनें। आप इस बात का दुःख करना बन्द कर दें। जीवन में अनपेक्ष रहें।

स्वामी विवेकानन्द जी को एक विदेशी महिला ने कहा कि "मैं आपकी बुद्धिमता से बहुत प्रभावित हूँ और आप से विवाह करना चाहती हूँ, जिससे मैं आप जैसे बुद्धिमान पुत्र की माँ बन सकूँ" तो स्वामीजी ने बहुत सुन्दर उत्तर दिया कि "यदि मैं आप से विवाह कर

भी लूँ तो पुत्र ही हो, वह भी बुद्धिमान निकले, यह निश्चित नहीं है तो आप ऐसा क्यों नहीं करतीं कि आप मुझे ही अपना पुत्र मान लीजिए, जिससे आपकी बुद्धिमान पुत्र पाने की इच्छा पूरी हो जाएगी।

प्रश्नकर्ता- उर्मिला दीदी

प्रश्न- कुरुक्षेत्र का युद्ध अट्ठाह दिनों तक चला था तो भगवान् श्रीकृष्ण को अर्जुन को गीता-ज्ञान देने में कितना समय लगा था?

उत्तर- गीताजी सुनाने को बहुत कम समय लगा। अतिथि के आने पर घर में ऊधम मचाते बच्चे को माँ केवल आँखे दिखा कर उसकी मस्ती बन्द करवा देती है तो इस प्रकार जो भाव है, वह बिना बोले भी सामने वाले तक पहुँचाया जा सकता है। तो क्या श्रीभगवान् को उनके मन के भाव अर्जुन के मन तक पहुँचाने में समय लग सकता है? इन सात सौ श्लोकों में कुछ श्लोक अर्जुन के तथा कुछ श्लोक सञ्जय के हैं। पहला अध्याय तो केवल युद्ध-क्षेत्र का वर्णन है जिसमें श्रीभगवान् ने तो कुछ कहा ही नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण की आँखों से अर्जुन ने जो समझ लिया, वही श्रीमद्भगवद्गीता थी। महर्षि वेदव्यास जी ने इसे शब्द-रूप दिया। पूर्ण गीताजी कहने में सम्भवतः दस या पन्द्रह मिनट का समय लगा होगा, पर मुझे तो लगता है कि इसमें एक क्षण का भी समय नहीं लगा होगा। श्रीभगवान् केवल देख भी लें तो कृपा-दृष्टि हो जाती है। बस उतना ही समय लगा होगा जितना श्रीभगवान् को अर्जुन की ओर दृष्टि डालने में लगा होगा। दूसरे अध्याय में अर्जुन ने श्रीभगवान् के लिए अपने मन के कपाट खोले-

"शिष्यस्तेऽहं(म्) शाधि मां(न्) त्वां(म्) प्रपन्नम्॥"

"जो मुझे आप कहें, वही मैं करूँगा।" इस प्रकार जब मन के कपाट खुले तो प्रभुकृपा हो गई।

प्रश्नकर्ता- जानकी दीदी

प्रश्न- मैं जब प्रातःकाल में पूजा करती हूँ तब तो आँखों में अश्रु नहीं आते परन्तु शाम को जब पूजा करती हूँ, तब आँखों से अश्रु आने लगते हैं, ऐसा क्यों होता है?

उत्तर- कितनी अच्छी बात है! आप भावमय होकर पूजा करती हैं, इसलिये आपकी आँखों में अश्रु आते हैं। सुबह आपका मन बाकी के कामों में रहता है इसलिए सम्भवतः अश्रु नहीं आते पर जब शाम को आप के सब काम हो जाते हैं और तब आप श्रीभगवान् की आराधना करती हैं, उस समय आपके मनोभाव अश्रु बनकर आपकी आँखों से आते हैं जो बहुत अच्छी बात है।

प्रश्नकर्ता- सतीश भैया

प्रश्न- श्रीमद्भगवद्गीता में वर्ण व्यवस्था, जाति-प्रथा को बढ़ावा देती है या कर्म की प्रधानता को?

उत्तर- जिस श्लोक से यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई वह श्लोक है-

चातुर्वर्ण्यं(म्) मया सृष्टं(ङ्), गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां(वँ), विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

श्रीभगवान् कहते हैं, "मैंने चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था गुण और कर्म देख कर बनायी।" कृपया ध्यान दें कि "जन्म से मैंने चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था की" ऐसा श्रीभगवान् ने नहीं कहा है।

गुण यानि योग्यता और कर्म का अर्थ है अनुभव। किसी भी नौकरी के लिए, उस पद के अनुरूप शैक्षणिक योग्यता और कार्य का अनुभव आवश्यक होता है। वहाँ भी चातुर्वर्ण्य होते हैं। प्रथम श्रेणी, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी। उसी प्रकार श्रीभगवान् ने वर्णों की व्यवस्था की है।

प्रश्नकर्ता- अमित भैया

प्रश्न- पूजा में चित्त एकाग्र कैसे करें?

उत्तर- मन में कामों की सूची चलती रहती है, इसलिए चित्त एकाग्र नहीं हो पाता है। प्रातः जल्दी उठें और पूजा करें तो चित्त लगेगा।

दूसरा, सबसे पहले अपने मन में भक्ति को जागृत करें। केवल उपचार-मात्र से पूजा न करें, उसमें भक्तिरस डालें, भाव डालें। आप देखेंगे कि रविवार को आपका पूजा में मन लगता है क्योंकि उस दिन आपको आगे के काम नहीं दिखते।

प्रश्नकर्ता- वन्दना दीदी

प्रश्न- ऐसा सुना है कि यदि परिवार में कोई समस्या हो तो श्रीमद्भगवद्गीता का कोई भी पृष्ठ खोल लेने से उसमें हमें हमारी समस्या का समाधान मिल जाता है। क्या यह बात सच है?

उत्तर- यदि मन में भाव हो तो यह सच है। अनेक व्यक्तियों ने अपने अनुभव से इस बात को सही पाया है। हमें सर्वप्रथम गीताजी के बारहवें अध्याय को इसलिए पढ़ाया गया कि जब हम इसका पठन करते हैं तो हमारे भीतर भक्ति का जागरण होता है और हमारा मन स्नेह और प्रेम से भर जाता है।

जब कोई गृहिणी घर के सभी सदस्यों को सम-भाव से देखती है, प्रेम से रहती है तो उसकी सब समस्याओं का निराकरण होता है। भगवान् श्रीकृष्ण उस गृहिणी के मन में विराजमान रहते हैं और सबको प्रेम और स्नेह देते हैं। सच्ची गृहिणी वह होती है जो पति तथा घर के प्रत्येक सदस्य को शक्ति देकर बाहर भेजती है और जब विषण्ण अवस्था में, टूटे हुए मन से कोई सदस्य घर लौटे तो यह कहती हो कि "चिन्ता मत करो, श्रीभगवान् सब ठीक करेंगे। आप चिन्ता न करें। आप हारें नहीं, आप डटे रहें।"

इस प्रकार जब कोई गृहिणी घर के सदस्यों को शक्ति देती है तब वह शक्तिस्वरूपा होती है। यह केवल स्त्री की ममता-शक्ति के कारण होता है, इसलिए सभी शक्तियाँ, देवियाँ, नवदुर्गा आदि स्त्री-स्वरूपा होती हैं। जो गृहिणी इस प्रकार ममता के भाव से घर के प्रत्येक सदस्य को शक्ति प्रदान करे, वह उस परिवार को जिताती है और उनकी जीत को अपनी जीत मानकर प्रसन्नता तथा उल्लास मनाती है। उसका परिवार जीता, उसे इसका आनन्द होता है।

हमारे सनातन धर्म को उन्होंने सात सौ वर्षों तक यवनों और तीन सौ वर्षों तक अङ्ग्रेजों से, अर्थात् कुल एक हजार वर्षों तक बचाए रखा, अपने माथे पर बिन्दियाँ लगाए रखी क्योंकि उन्होंने अपने घर में धर्म को जगाए रखा, कुलाचार और रीति-रिवाजों को निभाती रहीं। वे धर्म में रहीं, इसलिए धर्म बना रहा और इसीलिए उनका बिन्दी लगाने का अधिकार बचा रहा, नहीं तो हमें भी धर्म छोड़ना पड़ता।

जो शक्तिस्वरूपा गृहिणी घर के प्रत्येक सदस्य को स्नेह से भर दे, उस परिवार को हर समस्या का समाधान मिलेगा।



हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

<https://vivechan.learngeeta.com/feedback/>

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!

हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचें। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !

संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!

Let's come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

<https://gift.learngeeta.com/>

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं

पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करें।

<https://vivechan.learngeeta.com/>

॥ गीता पढ़ें, पढ़ाएँ, जीवन में लाए ॥

॥ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥